International Journal for Innovative Engineering and Management Research
PEER REVIEWED OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL
www.ijiemr.org

समकालीन उपन्यासो में दलित और स्त्री चित्रण के निहितार्थ का अध्ययन

PAIROJABANU M MESTRI
RESEARCH SCHOLAR, SUNRISE UNIVERSITY, ALWAR, RAJASTHAN

DR. VEDKALA YADAV
RESEARCH SUPERVISOR, SUNRISE UNIVERSITY, ALWAR, RAJASTHAN

सारांश

''19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के महिला लेखन और समाकालीन स्त्री–विमर्श में एक मौलिक अंतर पाया जाता है। वहाँ स्त्री का प्रतिपक्ष 'पुरुष' नहीं है, 'जड़ीभूत रूढ़ियाँ' हैं, जिनके विरुद्ध वे खड़ी होती हैं।''1 समकालीन स्त्री–विमर्श अपने को पूरी तरह से उस पृ ठभूमि से कटकर अपने लिए प्रेरणा एवं ऊर्जा पश्चिम के नारी आंदोलनों से ग्रहण करता है। साहित्य और दूसरी तरफ स्त्री के लिए लिखा गया साहित्य। अर्थात् स्त्री द्वारा स्त्री के लिए लिखा साहित्य ही साहित्यिक स्त्री विमर्श है, ऐसा ही तमाम नारीवादी लेखिकाएं मानती हैं। हिन्दी के लिए 'नारी विमर्श' शब्द नया है। नारी–विमर्श से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे साहित्य में पहले से ही स्त्री रचनाकारों के साथ–साथ पुरुष रचनाकारों के लेखन में पाये जाते रहे हैं। लेकिन आज जिस रूप में जिस अर्थ में स्त्री–विमर्श प्रयुक्त हो रहा है, उसका पर्याय नारीवादी लेखन या महिला लेखन नहीं है। 'स्त्री–विमर्श' न तो स्त्री द्वारा लिखा गया साहित्य है और न ही स्त्री के लिए लिखा गया साहित्य। वरन् यह स्त्रियों द्वारा स्त्रियों के लिए लिखा गया साहित्य है। स्त्री–विमर्श लेखन से जुड़ी स्त्रियां पुरुषों द्वारा स्त्रियों के लिए लिखे गये साहित्य को नारी–विमर्श के दायरे में स्वीकार नहीं करतीं। क्योंकि उनका तर्क है कि पुरुष लेखन स्त्री रचनाकार की तरह उसकी आशाओं–आकांक्षाओं, सपनों तथा शोषण के अंतहीन सिलसिलों का वैसा अनुभव नहीं कर सकता, जैसा कि स्त्रियाँ कर सकती हैं।

मुख्यशब्द– स्त्री चित्रण, दलित विमर्श, महिला लेखन

International Journal for Innovative Engineering and Management Research
PEER REVIEWED OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL
www.ijiemr.org

प्रस्तावना

बीसवीं सदी के मुक्ति संघर्षों में स्त्री और दलित मुक्ति संघर्ष सबसे अधिक मूलगामी और सार्वभौमिक रहा है। सबसे अधिक अहिंसक, रक्तहीन और सत्याग्रही भी। इस संघर्ष की व्यापकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि 'यह जितना अधिक बाहरी स्तर पर घटित हुआ है, उतना ही आंतरिक स्तर पर भी। वह एक साथ आत्मसंघर्ष भी रहा है। आत्मबोध, आत्मविश्लेषण और आत्माभिव्यक्ति का संघर्ष भी। दर्शन, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, इतिहास जैसी अनेक विधाएं इस संघर्ष पर एकाग्र हुई है और स्त्री तथा दलित मुक्ति संघर्ष का एक समृद्ध ाास्त्र विकसित हुआ है, जिसे समग्र रूप से स्त्री–विमर्श और दलित–विमर्श कहा जाता है। अमेरिका में 1910 ई. में नारी मुक्ति का आंदोलन शुरू हुआ था। 1908 ई. में ब्रिटेन में 'वीमेंस फ्रीडम लीग' की स्थापना हुई और 1911 ई. में जापान में महिला मुक्ति आंदोलन का प्रारंभ हुआ, लेकिन अंतर्रा ट्रीय स्तर पर महिला आंदोलन की ुरुआत 1951 ई. से मानी जाती है, जब संयुक्त रा ट्र संघ की महासभा ने भारी बहुमत से महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों का नियम पारित किया। इधर भारत में आधुनिक युगीन नवजागरण आजादी की लड़ाई के साथ स्त्री जागरण की लड़ाई भी लड़ रहा था। इसमें महिलाएँ पृथक नहीं थीं। ''19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के महिला लेखन और समाकालीन स्त्री–विमर्श में एक मौलिक अंतर पाया जाता है। वहाँ स्त्री का प्रतिपक्ष 'पुरुष' नहीं है, 'जड़ीभूत रूढ़ियाँ' हैं, जिनके विरुद्ध वे खड़ी होती हैं।''1 समकालीन स्त्री–विमर्श अपने को पूरी तरह से उस पृ ठभूमि से कटकर अपने लिए प्रेरणा एवं ऊर्जा पश्चिम के नारी आंदोलनों से ग्रहण करता है। इस तरह वह अपने दोनों तरफ सीमा–रेखाएं बना लेता है। एक तरफ स्त्री द्वारा लिखा गया साहित्य और दूसरी तरफ स्त्री के लिए लिखा गया साहित्य। अर्थात् स्त्री द्वारा स्त्री के लिए लिखा साहित्य ही साहित्यिक स्त्री विमर्श है, ऐसा ही तमाम नारीवादी लेखिकाएं मानती हैं। लेकिन वहीं पर प्रश्न खड़ा हो जाता है कि यदि कोई पुरुष स्त्रियों पर संवेदनात्मक और विद्रोहमूलक साहित्य लिखे तो क्या वह स्त्री–विमर्श के दायरे में नहीं आयेगा ? या फिर यदि कोई लेखिका स्त्रियों पर न लिखे तो उसे स्त्री लेखन के दायरे से बाहर माना

जायेगा ? आदि–आदि। इस सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य हमारी सहायता करते है ं। वीर लक्ष्मी देवी के अनुसार, ''इस चिंतन को भावुक अभिव्यक्ति देने के लिए कविता, विचारशील अभिव्यक्ति देने के लिए कहानी, कल्पनात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उपन्यास और विश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए निबंध लिखकर आधुनिक स्त्री साहित्यकार पूरे साहित्यिक परिमण्डल में संचार कर रही हैं।''2 बंगला कवयित्री मल्लिका सेनगुप्ता 'पुरुष निर्मित सौन्दर्यबोध' से अपने रचनात्मक रिश्ते की चर्चा करते हुए कहती हैं ''जहां आधा देश व्यथा से कराहता हो, वहां कविता उस व्यथा की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती है और इन अबोले, अनसुने अनुभवों के जरिये, जो पुरुष के अहसास से परे है, कविता अपने लिए स्त्री की भाषा को चुनती हैं। स्प ट है कि स्त्रीवादी लेखिकाएँ सहानुभूति की अपेक्षा स्वानुभूति पर बल देती हैं, जिस कारण स्त्री लेखन में पुरुष वर्ग अपने आप बाहर हो जाता है। ठीक यही स्थिति दलित लेखन की भी है। लेकिन भारतीय नवजागरणों की इस विशेषता के बावजूद कि 'उसमें स्त्री और दलित एक साथ सतह पर उभरे हैं' विस्मित करने वाली बात यह है कि उनकी संवेदना में कोई अन्तःसम्बंध नहीं है। स्त्री को एक वर्ग में लिंग के आधार पर बाँटना दुनिया को क्षैतिज रूप से बांटना है और दलितों को जातीय आधार पर बाँटना उसे समानांतर बाँटना है। यानि, रचनात्मक संसार को हम एक तरह से छोटे–छोटे चौकोर टुकड़ों में विभाजित कर रहे हैं। महिला लेखन की ही तरह दलित लेखन पर भी दो सवाल प्रथमतः खड़े होते हैं। एक यह कि दलित साहित्य किसे माना जाय ? वह जो दलितों द्वारा लिखा गया है अथवा अन्य द्वारा लिखा गया दलितों के साहित्य ? दो, यह कि दलित साहित्यकार किसे माना जाय ? उसे जो जन्मना दलित है अथवा अन्य सभी साहित्यकार जो दलित साहित्य लिख रहे हैं? वस्तुतः उपर्युक्त दोनों प्रश्नों में अन्तःसम्बंध है। एक का उत्तर मिल जाने पर दूसरा प्रश्न अपने आप हल हो जायेगा। इस सम्बंध में कुछेक साहित्यकारों के कथन यहाँ सहायक हैं। प्रख्यात दलित साहित्यकार डॉ. योराज सिंह बेचैन के अनुसार ''जो साहित्य दलित साहित्यकारों द्वारा लिखा जाता है, मैं उसे ही दलित साहित्य मानता हूँ'' ।4 स्प ट है कि बेचैन जी जन्मना दलितों को ही इस श्रेणी में स्वीकार करते हैं। जबकि

कँवल भारती कहती हैं कि ''मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। ऐसे बहुत से लेखक हैं, जिनका साहित्य हिन्दूवादी है। बहुत दलित लेखकों ने हिन्दू नायकों की वरुदावलियां गायी हैं। उसे हम दलित साहित्य कैसे कह सकते हैं।''5 इस मसले पर सबसे संतुलित प्रतिक्रिया डॉ. ाोभा पंवार निंबालकर की है। वे कहती हैं कि ''लिखने वाला चाहे दलित है, अगर उसकी रचना में वंचित वर्ग की स्थिति, परिस्थिति का अंकन किया गया है तो वह लेखक दलित लेखक कहलाएगा। यह अवश्य है कि जो भुक्तभोगी होते हैं, पीड़ा और वेदना अधिक स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होती है। अतः जहां व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की बात आती है तो कहना औचित्यपूर्ण होगा कि दलित जाति से लेखक ही दलित साहित्यकार कहलाने का हकदार है। ठीक उसी प्रकार कि नारी लेखन में नारी की पीड़ा जितनी स्वाभाविक रूप से लेखिका व्यक्त करती है, उतना लेखक नहीं कर सकता, क्योंकि उसका वह भोगा हुआ नहीं होता है।''6 अतः इस मसले पर हम पाते हैं कि स्वयं दलित साहित्यकार ही एकमत नहीं है। हालांकि ज्यादातर यही मानते हैं कि जन्मना दलित ही दलित साहित्यकार हो सकता है। प्रस्तुत अध्याय में इसी बिन्दु को स्वीकारते हुए दलित, गैर दलित, स्त्री, गैर स्त्री लेखकों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

अस्सी के दशक के बाद दलित एवं नारी विमर्शीकरण

भारत में आजादी के बावजूद दलितों को लगातार शोषण और अत्याचारों का सामना करना पड़ रहा था। महारा ट्र में शिवसेना जैसे उग्र हिन्दू संगठनों ने ऊँची जातियों में अपनी पैठ बना ली थी। दलितों के लिए कांग्रेस के 'अस्पृश्यता निवारण', 'गरीबी हटाओ' आदि नारे हवा–हवाई साबित हो रहे थे। दलितों पर बढ़ते अत्याचारों को देखकर ऐसे ही वातावरण में महारा ट्र में नवबौद्धों का उग्र आंदोलन और दलित साहित्य के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इन आन्दोलनों ने दलित अत्याचारों के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया। 1972 ई. में दो दलित कार्यकर्ताओं नामदेव ढसाल और जे.वी. पवार ने बंबई में 'दलित पैन्थर' का गठन किया। अगस्त 1972 ई. में राजा ढाले ने एक लेख 'काला स्वातंत्र्य दिवस' शीर्षक से लिखा, जो काफी

विवादास्पद हुआ। इस लेख ने दलितों में सनसनी पैदा कर दी और इसी के साथ 'दलित' शब्द भी प्रचलित हो गया। पैन्थरों और दलित लेखकों की रचनाओं ने युवा दलित बौद्धों और गैर बौद्धों को आकर्षित किया। अस्सी के दशक में तो दलित पैन्थरों और द्विज जातियों के बीच कई बार खुले टकराव भी हुए। इन्हीं परिस्थितियों के बीच 'सारिका' के तत्कालीन सम्पादक कमलेश्वर ने 1975 ई. में 'सारिका' के दो दलित विशेषांक निकाले, जिसमें हिन्दी में दलित चेतना या दलित साहित्य जैसी कोई बात नहीं थी। कमलेश्वर स्वयं कहते हैं कि 'उस समय तक हिन्दी का दलित साहित्य स्वानुभूत नहीं था। गैर दलित का ही दलित विषयक लेखन था। हिन्दी के दलित लेखकों का उदय तब नहीं हुआ था। मैं खुद हिन्दी क्षेत्र का हूँ। उस समय तक कुछ ऐसा उभार और उत्थान दिखाई नहीं पड़ता था।'1 मराठी में तो इसकी चर्चा जोरों पर थी, लेकिन हिन्दी में नहीं। 90 का दशक आते–आते हिन्दी में भी दलित ने साहित्य दस्तक देना शुरू कर दिया और हिन्दी भाषा में दलित साहित्य का दौर चल पड़ा। इस दौरान दलित कविताएँ, कहानियाँ, आत्मकथाओं के अंश आदि हिंदी कविताओं में छपकर आने लगे थे। अर्थात् 1992 के आस–पास 'दलित साहित्य' सभा–सम्मेलनों, मंचों, हिंदी कवितों आदि माध्यमों से अपनी मौजूदगी जाहिर कर चुका था, लेकिन 'हंस' कविता में जो दलित चेतना की हवा बहाई, वह आज आँधी बन चुकी है। कहने का आशय यह कि हंस ने ही दलित चेतना को साहित्य के केंद्र में खड़ा कर दिया। इसके अतिरिक्त 'युद्धरत आम आदमी', 'निर्णायक भीम', 'अंगुत्तर' आदि अन्य पत्रिकाओं ने दलित चेतना को उभरने में सहायता प्रदान की। दलित चेतना की ही तरह स्त्री–विमर्श का भी विकास हुआ। हालांकि हिन्दी में स्त्री विमर्श का इतिहास दलित विमर्श की अपेक्षा पुराना है। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दो दशक तो 'स्त्री–विमर्श' के संदर्भ में रिक्तता लिए हुए थे, किन्तु तीसरे दशक में महिला रचनाकारों की एक पूरी खेप पूरे जोश से उपस्थित होती है। इसमें महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम पहले आता है। स्वतंत्रता के बाद 'स्त्री चेतना' जोर पकड़ती है। छठा दशक बेहद उथल–पुथल लेकर आया। यह साहित्य की प्रत्येक विधा में नये–नये आंदोलनों का दौर था। स्त्री–विमर्श एक आंदोलन का रूप यहीं

से पकड़ता है, जिसमें पहला नाम ाशिप्रभा ाास्त्री का आता है। ाताब्दी के अंतिम दशक तक आते–आते स्त्री–विमर्श का कुछ रूप और हो जाता है। बदलती परिस्थितियों ने स्त्री चेना के नये–नये मुहावरे विकसित कर दिये। 'दलित–विमर्श' की ही तरह हंस हिंदी कविता में इस चेतना को भी एक नये रूप–रंग में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया। आज इस विमर्श ने हाशिए पर खड़ी स्त्रियों को साहित्य के केंद्र में ला खड़ा कर दिया है। स्त्री–विमर्श एवं दलित विमर्श को साहित्य के केंद्र में जिन महत्वपूर्ण हिंदी कविताओं का योगदान है, वे इस प्रकार हैं :

1. हंस (मासिक), संपादक– राजेंद्र यादव, नई दिल्ली

2. युद्धरत आम आदमी (त्रैमासिक), संपादक– रमणिका गुप्ता, नई दिल्ली

3. दलित साहित्य (वा ाकी), संपादक– जय प्रकाश कर्दम, नई दिल्ली

4. अपेक्षा (त्रैमासिक), संपादक– तेज सिंह, दिल्ली

5. दलित टुडे (मासिक), संपादक– महिपाल सिंह, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

6. मूक नायक, संपादक तारा परमार

7. सामाजिक न्याय संदेश, संपादक– मोहनदास नैमिशराय

8. अस्मितादर्श, संपादक– विमलकीर्ति नागपुर

9. पश्यंती, संपादक– प्रणव कुमार वंद्योपाध्याय, नई दिल्ली

10.बहुजनों का बहुजन भारत, संपादक– वामन मेश्राम, नई दिल्ली

11. हिमायती, संपादक– सोहनपाल सुमनाक्षर, दिल्ली

12.हम दलित, संपादक– आर.आर. कनौजिया, नई दिल्ली

13.अभिमूक नायक, प्रबंधक– रजनी तिलक, संपादक– आनंद कुमार

14.तीसरा पक्ष, संपादक– देवेश चौधरी, जबलपुर, मध्यप्रदेश

15.अंबेडकर इन इंडिया, संपादक नयानाथ निगम।

नारी एवं दलित चेतना का ध्वजवाहक 'हंस' मासिक

International Journal for Innovative Engineering and Management Research
PEER REVIEWED OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL
www.ijiemr.org

वैसे तो 1992 ई. से पूर्व हिन्दी दलित साहित्य और स्त्री–विमर्श साहित्य विभिन्न हिंदी कविताओं के माध्यम से अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका था। धर्मयुग और सारिका आदि हिंदी कविता तथा धर्मवीर भारती के नेतृत्व वाली टीम ने दोनों विमर्शों पर खूब लिखा। स्त्री विमर्श पूरी तरह से हिन्दी साहित्य की दुनिया में छा–सा गया था, लेकिन जब 'हंस' हिंदी कविताओं के पहल ने इसे साहित्य के केन्द्र में लाकर खड़ा कर दिया। इसके सम्पादक राजेन्द्र यादव ने न केवल इसे प्रोत्साहन, स्वीकृति ओर जबर्दस्त समर्थन प्रदान किया, बल्कि इसके कोख से न जाने कितने, कुछ नामी और कुछ गुमनाम; दलित एवं स्त्री विचारकों/लेखकों/लेखिकाओं/कवियों और कवयित्रियों को जन्म और मंच दिया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि आज के अधिकांश दलित एवं महिला लेखक की देन हैं। चाहे मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश बाल्मीकि, माता प्रसाद, तुलसीराम, कांता भारती, अर्चना वर्मा, डॉ. धर्मवीर, अजय नावरिया, योराज सिंह बेचैन, डॉ. जय प्रकाश कर्दम, रमणिका गुप्ता, कर्मशील भारती, कंवल भारती, डॉ. विवेक कुमार, भगवान दास मोरवाल, रत्नकुमार सांभरिया आदि दलित विचारक हों या फिर प्रभा खेतान, मन्नू भण्डारी, नासिरा ार्मा, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पु पा, सूर्यबाला, मृणाल पाण्डेय, अर्चना वर्मा, जया जादवानी आदि स्त्री लेखिका, सभी को हंस ने अपने से जोड़कर उनके विचारों को राष्ट्रीय और वैश्विक मंच प्रदान किया।

हिन्दी में स्त्री विमर्श को लेकर अब तक आशंका, भ्रम, आक्रोश और नकार, लगभग युद्ध की मनोस्थिति में है। यहाँ तक कि कुछ लेखिकाएँ भी अपने आपको स्त्रीवाद के साथ जोड़ना पसंद नहीं करतीं। उसका कारण है कि सचमुच स्त्री–विमर्श परिवार–सत्ता को ऐसा आइना दिखाता है, जिसे वे देखना नहीं चाहतीं। देह–मुक्ति के मुद्दे पर तो कुछ आलोचकों ने स्त्री–लेखिकाओं को कुलटा, व्यभिचारिणी, स्वच्छन्द और भारतीय परम्परा को न ट करने वाली आदि न जाने कितने विभत्स विशेषणों से युक्त सिद्ध करने की कोशिश की। लेकिन हंस ने स्त्री–विमर्श का दिल से स्वागत करते हुए साहित्यिक स्थापना की। हंस पीठ के नायक राजेंद्र यादव दलित एवं स्त्री विमर्श के प्रति अपने झुकाव और विरोधियों की नकार भावना पर टिप्पणी करते

हुए संपादकीय में लिखते हैं कि ''दलित, स्त्री और अल्पसंख्यक विमर्श के लिए मेरा झुकाव अर्चना, निर्मला जैन जैसे सभी हिन्दी के प्राध्यापकनुमा मित्रों के लिए विस्फोटक 'चिढ़न बिन्दु' है– लगभग बेंगन शब्द सुनकर भड़कने वालों की तरह। इधर राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास या देश–विदेश का कोई भी बौद्धिक अनुशासन हो, आज सबका केंद्र हाशियों पर फेंक दिये गये वे ही लोग हैं, जिन्हें साहित्य में कभी बोलने नहीं दिया गया। इधर बड़े से बड़े दार्शनिक ने जिस वर्चस्व विखंडन (दि–कन्सट्रक्शन आफ हैजेमनी) को अपनी चिंता का केंद्र बनाया है, उसके पीछे भी यही दलित–स्त्री जैसे हाशिया कृत लोगों का उभार है। उनके हिसाब से यह सब फैशन और चर्चा में बने रहने के हथकंडे हैं। दयनीय यह है कि अपने आसपास घटित होती राजनीतिक और सामाजिक उथल–पुथल भी उनके लिए सिर्फ ऐसा तमाश है, जो थोड़ी बहुत उछल–कूद के बाद अपने आप ठंडा हो जायेगी। ये 'अछूत' विषय है।

दलित विमर्श : प्रमुख बिन्दु

वर्ण–व्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र आदि चार वर्णों पर आधारित समाज व्यवस्था है, जो भारतीय समाज में प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। इसी से जाति व्यवस्था निकली अधिकतर विद्यान यह मानते हैं कि यह व्यवस्था प्रारंभिक काल में कर्म पर आधारित थी, जिसे बाद में धर्मग्रंथों का हवाला देकर जन्मना बना दिया गया। 'शूद्र' सामाजिक संरचना के सबसे निचले पायदान पर अवस्थित सर्वाधिक निकृ ट और उपेक्षित वर्ग बन गया। किन्तु 'दलित' शब्द बिल्कुल नया है। यह आधुनिक मराठी, गुजराती, हिन्दी और अन्य अनेक भारतीय भाषाओं का एक अति प्रचलित शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ होता है दरिद्र और उत्पीड़ित। दलित भी शुद्र की श्रेणी का ही वर्ग है, किन्तु दोनों की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अंतर है। आज के प्रचलित अर्थ में 'शूद्र' सेवा धर्म से जुड़े सभी लोगों को कहा जाता है; जबकि 'दलित' केवल अन्त्यज समझे जाने वाले भारत के अनुसूचित जाति (चमार, मुसहर, डोम, पासी, खटिक आदि) और नगर से बाहर रहने वाले अनुसूचित जनजाति (आदिवासी) आदि लोग हैं। दलित शब्द का कोशीय अर्थ

है– जिसका दलन और दमन हुआ हो। जो दबाया, रौंदा, मसला, सताया, कुचला हुआ हो। पर सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक संदर्भों में इसे एक भिन्न सांस्कृतिक अर्थ मिल गया है। आंदोलन और साहित्य के साथ मिलकर यह शब्द सहज ही एक विशि ट अर्थ को सूचित कर देता है, जो भारतीय संदर्भ में अन्त्यजों और वंचित जनजातियों के लिए रूढ़ है। इस प्रकार दलित शब्द की लोकप्रियता का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। यह विगत तीन–चार दशकों में ही प्रचलित हुआ है; इसके पहले तो गांधी जी का 'हरिजन' शब्द ही अधिक प्रचलित था। इस प्रकार दलित एक गतिशील शब्द है, जो एक खास सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना को सूचित करता है। साथ ही इसमें एक विशि ट आंदोलनकारी चेतना भी है। स्प ट है कि दलित शब्द की समाजशास्त्रीय सीमा और अर्थबोध अत्यंत व्यापक है। किन्तु राजनीति और समाजशास्त्र के लिए यह चाहे जितनी भी अर्थ–व्यंजना करे, साहित्य के लिए यह सीमित अर्थ में ही प्रचलित हो गया है। जब तक समाजशास्त्र और राजनीति में वर्णित उपर्युक्त सीमाओं को साहित्यशास्त्र स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक दलित साहित्यकारों द्वारा निर्धारित स्वरूपों पर ही हम दलित शब्द की व्याख्या करेंगे। परिवर्तन की गति अबाध और ााश्वत है। यह अलग बात है कि कुछ समाजों में यह धीमा होता है तो कुछ में तेज। विचारपूर्वक देखा जाय तो पश्चिम में इसकी गति तीव्र होती है और भारतीय समाज में मंद। फिर भी आधुनिक भारतीय समाज में तेजी से परिवर्तन हुआ है। किसी भी समाज के परिवर्तन की धारा और उसके स्वरूप को समझने के लिए उसकी परंपरा और सामाजिक संरचना को जानना जरूरी है। नेडल के अनुसार, ''सामाजिक संरचना को हम समाज में व्यक्तियों की भूमिकाओं तथा परिस्थिति से उत्पन्न अंतर–सम्बन्धों के नेटवर्क के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।''6 परिवर्तन स्वतः चालित तो होता ही है, किन्तु यह व्यक्तियों एवं संस्थाओं के प्रयासों का भी परिणाम होता है। एक ओर भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों ने दलित समुदाय को प्रभावित किया तो दूसरी ओर दलित समुदाय ने भी अपने उत्थान हेतु अनेक आंदोलनों द्वारा अपने समाज में परिवर्तन के लिए प्रयास किया। यह प्रयास सामाजिक क्रियाकलापों, राजनीतिक गतिविधियों और साहित्यिक

International Journal for Innovative Engineering and Management Research
PEER REVIEWED OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL
www.ijiemr.org

विमर्शों द्वारा लगातार किया जा रहा है। साहित्यिक प्रयास को दलित विमर्श का नाम दिया गया, जो आज हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक चर्चित और विवादित एजेंडा है। दलितों की मुक्ति चेतना साहित्य में दलित विमर्श या दलित साहित्य के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। इस बारे में यह कई विद्यानों द्वारा कहा जा रहा है कि दलित विमर्श का साहित्य– साहित्य से अधिक सामाजिक आंदोलन और सांस्कृतिक विमर्श है। इसलिए दलित साहित्य की समस्या सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों है। दलित साहित्य की यह स्प ट मान्यता है कि ऐसी संस्कृति सम्पूर्ण भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, जिसमें समाज की सारी सहूलियतें, सारी सुख–सुविधा किसी खास वर्ग के लिए ही जुटा दी गयी हों। दलित साहित्य सम्पूर्ण पूर्ववर्ती साहित्य को सवर्णों का साहित्य कहकर पूरी तरह खारिज कर देता है। पूरे दलित साहित्य को ऊपरी तौर पर देखने से तो ऐसा ही लगता है, किन्तु ऐसा है नहीं। वह तो केवल अपनी खोई संस्कृति की पड़ताल चाहता है। वह केवल संस्कृति की पुनर्व्याख्या द्वारा उसका परि कार चाहता है। दरअसल, सारी लड़ाई संस्कृति के पाठ और उसकी पुनर्व्याख्या को लेकर है। हिन्दी साहित्य में वर्णित दलित चेतना के विविध प्रश्नों के स्वरूप पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है ।

दलित मुक्ति का अतीत और वर्तमान

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू बनाम हिन्दू' में लिखा है कि ''दुनिया में सबसे अधिक उदास हैं हिन्दुस्तानी लोग। वे उदास हैं, क्योंकि वे ही सबसे ज्यादा गरीब और बीमार भी हैं।''1 इस कथन में भारतीय समाज की विपन्नता की जो तस्वीरें उभरती हैं, उसके कारण आर्थिक कम सामाजिक एवं सांस्कृतिक ज्यादा हैं। क्योंकि आर्थक दृष्टि से संपन्न होने पर भी दलित एवं औरतों के प्रति समाज का दृष्टिकोण अत्यंत निम्न एवं गंदा है। इसके लिए समाज के दो तत्वों को जिम्मेदार माना जा सकता है, पहला है वर्ण और दूसरा है लिंग भेद। समाज का यह सोचना कि आर्थिक संपन्नता द्वारा गरीबी मिटने के साथ–साथ वर्ण एवं लिंग भेद भी लुप्त हो जायेंगे, बड़ी भारी भूल है। ये दोनों तत्व आर्थिक तु"ट के बाद समाज में घुन की तरह लगे रहेंगे। ज्ञात इतिहास के आरंभिक काल से ही भारतीय समाज जाति,

International Journal for Innovative Engineering and Management Research
PEER REVIEWED OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL
www.ijiemr.org

वर्ग और वर्णों में बंटा रहा है। ऋग्वेद से लेकर अब तक भारतीय साहित्य में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। सामाजिक श्रे''ठता में सबसे ऊँचे पायदान पर ब्राह्मण और सबसे निचले स्तर पर 'ूद और दलित स्थित हैं। इस कारा को तोड़ पाना आज भी मुश्किल और कठिन काम है। वर्ग में गतिशीलता होती है। समाज में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के लोग होते हैं और धीरे–धीरे इसमें परिवर्तन भी होता है, किन्तु वर्ण स्थिर और गतिहीन है। गतिहीनता के इसी गर्त में शूद्र और दलितों की सामाजिक नियति निहित है। शूद्र और दलित शब्द सामान्यतः समानार्थी होते हुए मौलिक रूप से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। वर्ण–व्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि चार वर्णों पर आधारित समाज व्यवस्था है, जो भारतीय समाज में प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। इसी से जाति व्यवस्था निकली। आधिकांश विद्वानों का मत है कि यह व्यवस्था प्रथमतः कर्म के आधार पर निर्मित थी। बाद में इसे धर्म ग्रंथों का हवाला देकर जन्मना बना दिया गया। यह बहुप्रचलित और प्रचारित बात है कि ब्राह्मणों का काम समाज के लिए ज्ञानार्जन था। वह शिक्षण, पौरोहिती, यज्ञादि अनु''ठान का कार्य करता था। क्षत्रियों का कार्य अपने बाहुबल से समाज की रक्षा करना था। वैश्य अन्न–उत्पादन एवं पशु पालन का कार्य करते थे और शूद्रों को सेवा कार्य सौंपा गया था। वे अन्य सभी वर्गों की सेवा करते थे और बदले में समाज के अन्य वर्गों द्वारा उनका भरण पोषण होता था। किन्तु धीरे–धीरे इस व्यवस्था में विकृतियाँ आती गयीं और यह भारतीय समाज के लिए घातक सिद्ध हो गया।

मुक्तिकाल के संघर्ष से उत्पन्न संकट

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दलित नवोन्मे''ा भारतीय राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सम्पूर्ण स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति का स्वभाव दलितोन्मुखी हो गया है। वस्तुतः आज भारत की दलित चेतना अपना स्प''ट राजनीतिक चरित्र प्राप्त कर चुकी है, वह अन्य परम्परागत 'ाक्तियों के साथ सत्ता संघर्ष में एक अपराजेय प्रतिद्वंद्वी के रूप में उभर रही है। अब यह भारतीय राजनीति में एक तथ्य मात्र नहीं, उसकी धुरी के रूप में स्थापित हो चुकी है और सभी राजनीतिक

दल इस ‘ाक्ति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर उसकी प्रचुर संभावनाओं का दोहन करने में मानो एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हैं। कदाचित् यह समय भारत की राजनीति का अत्यंत संवेदनशील और निर्णायक दौर है। भारतीय राजनीति में दलित समीकरण के कारण अनेक तत्कालीन और दूरगामी परिवर्तन होंगे। वस्तुतः भारतीय राजनीति के इस दलित जन उभार में प्रचुर संभावनाएँ छिपी हुई हैं। भारतीय राजनीति, विशेषकर उत्तर भारत की राजनीति के दलित नवोन्मे”ा के समानांतर उसकी सबसे महत्वपूर्ण सीाावना का विकास हिन्दी साहित्य में दलित आंदोलन के रूप में मराठी साहित्य में दलित लेखन काफी पहले से ही एक आंदोलन की ‘ाक्ल ले चुका था, पर अब हिन्दी भा”ाी क्षेत्रों में दलितों की राजनीतिक सहभागिता के साथ ही साहित्य में भी दलित लेखकों की एक पीढ़ी तैयार हो गयी है। इसे कार्य–कारण संबंध माना जाय या मात्र संयोग, यह विचार का विषय हो सकता है, लेकिन इतना सुनिश्चित है कि भारतीय राजनीति की तरह हिन्दी साहित्य में भी दलित प्रसंग एक प्रबल चुनौती, एक निर्भ्रान्त सत्य के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। ‘ाुभाराव ने लिखा है कि ‘‘दलित लेखन को यह स्वीकृति सुगमता से प्राप्त नहीं हुई है। साहित्यकारों और आलोचकों का एक वर्ग निरंतर हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा में दलित आगमन को एक हस्तक्षेप से अधिक कुछ न मानते हुए उनकी साहित्यिक उत्कृ”टता पर प्रश्न चिह्न लगाता रहा है।’’11 ‘ाोध के क्षेत्र में दलित साहित्यकारों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाले निर्देशकों के वर्चस्व को समाप्त करने के लिए अनुसूचित जाति के लेक्चरर्स के पदों को भरने के लिए यूजीसी द्वारा निर्धारित प्रतिमान के अवरोध पर बल दिया। इतना संघर्ष के बाद भी यदि सरकार द्वारा कुछ सुविधाएँ प्रदान होने पर दलित उसका उपयोग करना चाहते थे तो नहीं हो पाता था। अच्छी प्रतिभा जातिवाद के भंवर में पड़कर कुंठित हो जाती थी। अच्छी से अच्छी रचना भी प्रकाशकों द्वारा स्वीकार्य नहीं होती थीं, इसके पीछे सिर्फ एक कारण कहीं न कहीं होता था कि वह दलित लेखन से संबद्ध है। डॉ. ‘योराज सिंह बेचैन ने कहा है कि ‘‘हिन्दी की सभी राष्ट्रीय–क्षेत्रीय कविताओं में जातीय सोच से संचालित होती हैं। बतौर लेखक, सम्पादक दलितों की लोकतांत्रिक भागीदारी पर उन्होंने

विशेष जोर दिया।''12 शिक्षा के लिए दलितों ने सदैव से संघर्ष किया, किन्तु संघर्ष के अनुरूप उन्हें कभी भी सफलता नहीं मिली। अत्यधिक चाहकर भी उन्हें उगने नहीं दिया गया। विश्वेश्वर पासवान ने लिखा है कि ''दलितों से शिक्षा छीनी गयी। उन्हें साहित्य से वंचित किया गया। आज जन भाषा ही दलित साहित्य की भाषा हो सकती है।''13 जय प्रकाश कर्दम ने लिखा कि ''सारिका में मात्र मराठी क्षेत्र के दलित ही प्रकाशित हुए। हिन्दी के दलित लेखकों को कोई स्थान नहीं मिला।''14 इसी तरह के अन्य ौक्षिक संघर्ष को सहना पड़ा है, दलितों के इसके कुछ उदाहरण आगे विवृत हैं। जैसे दलितों का उच्च शिक्षा में भागीदारी का न होना। जब तक दलित शिक्षकों की उच्च शिक्षा में भागीदारी पूरी नहीं होती, तब तक दलित शिक्षकों को गैर–दलितों के प्रतिमान से नहीं आंका जा सकता। यूजीसी का अनुदान दलित लेखकों या ‘ोधकोंको नहीं मिल पाता। जबकि दलित छात्रों को आर्थिक सहायता की सबसे अधिक जरूरत होती है। अतः बिना किसी प्रतियोगिता के दलित ‘ोधकों को छात्रवृत्ति मिले। प्रकाशन के सम्बंध में दलित साहित्य को 75 फीसदी प्रकाशन की सहायता दी जाय। चूँकि सम्पादक, पत्रकार ज्यादातर सवर्ण जातियों से हैं और उनका नजरिया ब्राह्मणवादी है, इसलिए संपादकों में अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जाना चाहिए। जिन संस्थाओं में प्रतिनिधित्व न मिले, उनका सरकारी अनुदान बंद होना चाहिए। दलित महिलाओं का हर ौक्षिक संस्था में गैर दलित औरतों की तुलना में लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व पूरा कराया जाय। कक्षा पाँच से एम.ए. तक के पाठ्यक्रम में दलितों के साहित्य को ‘ाामिल किया जाय। दलित साहित्यकारों की भागीदारी के बगैर एकतरफा मूल्यांकन किया जाय। दलित शिक्षा के संयोजक चंद्रभान प्रसाद ने दलित शिक्षा और साहित्य के संबंधों पर विचार करते हुए लिखा है कि ''गुलाम युग की तरह आज भी दलितों के शिक्षा संबंधी दरवाजे बंद हैं। अगर उन्हें उच्च पदों पर पदासीन नहीं किया जायेगा तो दलित साहित्यकार बनेंगे कहाँ से ? उन्हें मुक्त होने में सबसे बड़ी बाधा मनुवादियों ने खड़ी की है।''15 दलितों के समक्ष आधुनिक समय में कुछ ऐसे ज्वलंत प्रश्न हैं, जिससे मुक्ति हेतु सदैव संघर्ष किया और उससे मुक्ति में कई यातनाएँ भुगतनी पड़ी।

International Journal for Innovative Engineering and Management Research
PEER REVIEWED OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL
www.ijiemr.org

निष्कर्ष

हिन्दी में स्त्री विमर्श को लेकर अब तक आशंका, भ्रम, आक्रोश और नकार, लगभग युद्ध की मनोस्थिति में है। यहाँ तक कि कुछ लेखिकाएँ भी अपने आपको स्त्रीवाद के साथ जोड़ना पसंद नहीं करतीं। उसका कारण है कि सचमुच स्त्री–विमर्श परिवार–सत्ता को ऐसा आइना दिखाता है, जिसे वे देखना नहीं चाहतीं। देह–मुक्ति के मुद्दे पर तो कुछ आलोचकों ने स्त्री–लेखिकाओं को कुलटा, व्यभिचारिणी, स्वच्छन्द और भारतीय परम्परा को न ट करने वाली आदि न जाने कितने विभत्स विशेषणों से युक्त सिद्ध करने की कोशिश की। लेकिन हंस ने स्त्री–विमर्श का दिल से स्वागत करते हुए साहित्यिक स्थापना की। हंस पीठ के नायक राजेंद्र यादव दलित एवं स्त्री विमर्श के प्रति अपने झुकाव और विरोधियों की नकार भावना पर टिप्पणी करते हुए संपादकीय में लिखते हैं कि ''दलित, स्त्री और अल्पसंख्यक विमर्श के लिए मेरा झुकाव अर्चना, निर्मला जैन जैसे सभी हिन्दी के प्राध्यापकनुमा मित्रों के लिए विस्फोटक 'चिढ़न बिन्दु' है– लगभग बेंगन शब्द सुनकर भड़कने वालों की तरह। इधर राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास या देश–विदेश का कोई भी बौद्धिक अनुशासन हो, आज सबका केंद्र हाशियों पर फेंक दिये गये वे ही लोग हैं, जिन्हें साहित्य में कभी बोलने नहीं दिया गया। इधर बड़े से बड़े दार्शनिक ने जिस वर्चस्व विखंडन (दि–कन्सट्रक्शन आफ हैजेमनी) को अपनी चिंता का केंद्र बनाया है, उसके पीछे भी यही दलित–स्त्री जैसे हाशिया कृत लोगों का उभार है।

दलित साहित्य की रचना प्रक्रिया से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि दलित साहित्य कौन लिख सकता है? या फिर किसे दलित साहित्य/ साहित्यकार माना जाय? यह प्रश्न नहीं यक्षप्रश्न है कि क्या दलितों द्वारा लिखा साहित्य ही दलित साहित्य है या दलित विषय पर गैर दलितों द्वारा लिखा साहित्य भी इस श्रेणी में आयेगा? इस प्रश्न ने हिन्दी साहित्य जगत में एक खासा विवाद पैदा कर दिया है। लेखक और विचारकों में दलित साहित्य की रचनात्मक अवधारणा को लेकर दोनों ही तरह के विचार प्रचलित हैं। अर्थात् कुछ लोग जन्मना दलित लेखन को ही दलित साहित्य मानते हैं तो कुछ लोगों के विचार में दलित केंद्रित अन्य लेखन भी दलित साहित्य है, भले ही वह गैर दलितों द्वारा लिखे गये हों। राजकुमार सैनी

का कहना है कि ''मेरा अभिमत है कि दलित चेतना का साहित्य लिखने के लिए दलित होना जरूरी नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आदिवासी स्वर और नई 'ताब्दी, खंड–2, संपादक–रमणिका गुप्ता,
- शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, राधाकृ''ण प्रकाशन– 1995
- संधान, अंक दो, अनीता भारती का लेख, 'कफन और दलित स्त्री विमर्श'
- मैथिल ब्राह्मण की पंजी व्यवस्था : रमानाथ झा, कन्हैयालाल–कृ''णदास, लहेरियासराय, संस्करण– 1977
- मिथिला का इतिहास, डॉ. रामप्रकाश 'ार्मा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय
- बहुरंग मधुपुरी, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण– 1989
- साहित्य में संवाद, गोपेश्वर सिंह, मेधा बुक्स, 'ाहदरा, दिल्ली
- स्त्री परंपरा और आधुनिकता : संपादक– राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 1999
- स्वर्ग द्वार पर धावा : बिहार में दलित आंदोलन
- भारतीय दलित आंदोलन, मोहनदास नैमिशराय
- राष्ट्रीय महिला आयोग रिपोर्ट 1996–1997
- प्रेमचंद : सामंत का मुंशी, डॉ. धर्मवीर
- दलित : हस्तक्षेप, रमणिका गुप्ता, शिल्पायन, दिल्ली
- मनु स्मृति
- संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- ऋग्वेद, गीता प्रेस गोरखपुर
- न''ट लड़की : भ्र''ट गद्य, तसलीमा नसरीन
- हिन्दी कवयित्रियों का बहुआयामी रचना संसार और नारी, रमणिका गुप्ता चेतना, स्वर्णजयंती स्मारिका, मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद, बैंगलुरु
- हिमायती, सम्पादक– डॉ. सुमनाक्षर, माडल टाउन, दिल्ली

- स्त्री : संघर्ष और सृजन, श्रीधरम, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद
- औरत होने की सजा : अरविंद जैन
- हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पुनश्च : स्त्री–विमर्श, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, 2003 ई43.दलित साहित्य के यक्ष प्रश्न– सम्पादक डॉ. रामगोपाल भारतीय, नटराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2009
- दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : ओम प्रकाश बाल्मीकि, राधाकृ''ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
- कबीर के आलोचक, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- आधुनिकता के आईने में दलित : सम्पादक– अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- मेरे साक्षात्कार, मैनेजर पाण्डेय, किताब घर प्रकाशन
- हिन्दू बनाम हिन्दू, डॉ. राममनोहर लोहिया
- भारतीय संस्कृति कोश, सम्पादक– डॉ. लीलाधर पर्वतीय
- काली सुर्खियाँ, सम्पादक– राजेंद्र यादव, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण